॥ ओ३म् ॥

॥ वेदान्ति-ध्वान्त निवारण ॥

सम्पादक का निवेदन

महर्षि दयानन्द सरस्वती ने 'थ्यासोफिकल सोसाइटी' अमेरिका के अध्यक्ष श्री हैनरी एस० औलकौट महोदय के पत्र के उत्तर में एक पत्र संस्कृत में लिखा था । यह पत्र बहुत प्रसिद्ध और बहुत महत्वपूर्ण है । इस में महर्षि ने आर्य समाज के मूलभूत उद्देश्यों का सप्रमाण उल्लेख किया है । "ऋषि दयानन्द के पत्र और विज्ञापन" नामक पुस्तक में इस पत्र की संख्या ५५ है और यह पृष्ठ १०५ से ११४ तक में मुद्रित हुआ है । इस पत्र में पृष्ठ ११० के आरम्भ में ही महर्षि का यह लेख प्राप्त होता है:—

"ये च मया वेदभाष्यसन्ध्योपासनार्याभिविनयवेदविरुद्धमतखण्डनवेदान्तिध्वान्तनिवारणसत्यार्थप्रकाशसंस्कारविध्यार्योद्देश्यरत्नमालादयो ग्रन्था निर्मितास्तद्दर्शनेनापि वेदोद्देश्यविज्ञानं भवितुमर्हतीति विजानीत ॥"

इसका अर्थ यह है:—

"और मैंने जो वेदभाष्य, सन्ध्योपासना, आर्याभिविनय, वेद-विरुद्धमतखण्डन, वेदान्ति-ध्वान्त-निवारण, सत्यार्थ प्रकाश, संस्कार विधि, आर्योद्देश्य-रत्नमाला, आदि ग्रन्थ बनाये हैं, उनके देखने से भी वेद के उद्देश्य का ज्ञान हो सकता है ।"

यहां महर्षि ने अन्य ग्रन्थों के साथ ही "वेदान्ति-ध्वान्त-निवारण" ग्रन्थ का लेखक होना स्वीकार किया है । परन्तु हम बहुत विचार करके भी यह समझने में अभी तक असमर्थ हैं कि वैदिक यन्त्रालय, अजमेर, से इस पुस्तक के जो कई संस्करण प्रकाशित हो चुके हैं, उन पर लेखक के रूप में महर्षि का शुभ नाम क्यों नहीं मुद्रित किया जाता । हाँ, वैदिक यन्त्रालय इस ग्रन्थ के दूसरे पृष्ठ पर एक श्लोक अवश्य छापा करता है, जिस से महर्षि का इस ग्रन्थ का लेखक होना ध्वनित होता है । हमने उक्त श्लोक पुस्तक के आरम्भ में छपवा दिया है ।

'ध्वान्त' शब्द का अर्थ अन्धकार होता है । इस ग्रन्थ में महर्षि ने नवीन-वेदान्त के मत का, युक्तियों और प्रमाणों से भली प्रकार खण्डन और वेदानुकूल ईश्वर, जीव और प्रकृति का, त्रैतवाद का मण्डन किया है । तथाकथित वेदान्तियों के फैलाये हुए अज्ञान का निवारण करना, इस ग्रन्थ का ध्येय है, यह इसके नाम से ही स्पष्ट है ।

'नवीन-वेदान्त' इस परिभाषा के आविष्कारक और प्रचारक भी महर्षि दयानन्द ही हैं । महर्षि के इस आविष्कार का परिणाम संसार के लिये अल्पकाल में ही बहुत हितकारक सिद्ध हुआ है और इससे भविष्य में भी संसार का बहुत लाभ अवश्य ही होगा । 'नवीन-वेदान्त' इन शब्दों के प्रयोग से 'प्राचीन-वेदान्त की कल्पना स्वयमेव उद्भूत होती है, और महर्षि के प्रचार का ध्येय तथा मन्तव्य—यह प्राचीन वेदान्त ही है । महर्षि की इस 'नवीन-वेदान्त' की परिभाषा के आविष्कार ने दार्शनिक जगत् में एक भारी क्रान्ति की है । और, नवीन एवं प्राचीन-वेदान्त के मध्य में एक स्पष्ट रेखा खींच कर दोनों, के स्वरूप को पृथक-पृथक निश्चित कर दिया है ।

जिस समय महर्षि ने अपना वेद-प्रचार-आन्दोलन आरम्भ किया था—भारत में सर्वत्र अहं ब्रह्मास्मि—का राग आलापने वाले विचित्र-वेदान्तियों की सर्वत्र भरमार हो रही थी । और, मायावाद की माया ने भारी अकर्मण्यता सर्वत्र फैला रखी थी । यह तो सभी जानते हैं कि इस नवीन वेदान्त के, अथवा मायावाद के आद्य प्रचारक के रूप में श्री शंकराचार्य जी का नाम सर्वत्र प्रसिद्ध है । अतः यह भी स्पष्ट है कि महर्षि दयानन्द श्री शंकराचार्य जी

के मत के प्रबल विरोधी थे। अपने सत्यार्थ प्रकाश आदि ग्रन्थों में भी महर्षि ने विस्तारपूर्वक श्री शंकराचार्य जी के मत का खण्डन किया है। महर्षि के प्रचार का ही यह सुफल है कि नवीन-वेदान्त की माया आज छिन्न-भिन्न हो चुकी है और अकर्मण्यता का स्थान पुरुषार्थ की श्रेष्ठ प्रवृत्ति ने ले लिया है।

यहां पाठक यह भी जान लें कि महर्षि दयानन्द श्री शंकराचार्य जी के मत के प्रबल विरोधी अवश्य थे, परन्तु इसके साथ ही महर्षि के हृदय में श्री शंकराचार्य जी के प्रति अगाध प्रेम और सन्मान के भाव भी विद्यमान थे। सत्यार्थ प्रकाश में वे लिखते हैं:—

"बाइससौ वर्ष हुए कि एक शंकराचार्य द्रविड़ देशोत्पन्न ब्राह्मण ब्रह्मचर्य से व्याकरणादि सब शास्त्रों को पढ़कर सोचने लगे कि अहह! सत्य आस्तिक मत का छूटना और जैन नास्तिक मतका चलना बड़ी हानि की बात हुई है।"

[सत्यार्थ प्रकाश समुल्लास–११]

यहाँ महर्षि श्री शंकराचार्य जी के ब्रह्मचर्य पालन और शास्त्रज्ञान का प्रसन्नता पूर्वक उल्लेख करते हैं। श्री शंकराचार्य जी की मृत्यु का उल्लेख भी महर्षि ने अत्यन्त करुणाजनक शब्दों में किया है:—

"जब वेद मत का स्थापन हो चुका और विद्या प्रचार करने का विचार करते ही थे। उतने में दो जैन ऊपर से कथन मात्र वेद मत और भीतर से कट्टर जैन अर्थात् कपटमुनि थे। शंकराचार्य उन पर अति प्रसन्न थे। उन दोनों ने अवसर पाकर शंकराचार्य को ऐसी विषयुक्त वस्तु खिलाई कि उनकी क्षुधा मन्द हो गई। पश्चात् शरीर में फोड़े, फुन्सी होकर छः महीने के भीतर शरीर छूट गया। तब सब निरुत्साही हो गये और जो विद्या का प्रचार होने वाला था, वह न होने पाया।"

जिस समय महर्षि ने ये शब्द लिखे थे, तब उन्हें क्या पता था कि निकट भविष्य में ही भारत में एक बार फिर श्री शंकराचार्य जी के साथ किये गये विश्वास-घात की घटना का पुनरावर्तन होगा। स्वयं मेरे ही साथ विश्वास-घात होगा। बहुत बड़े लोकोपकार में बाधा पड़ेगी और वेदोद्धार का बहुत बड़ा कार्य अपूर्ण रह जायगा।

'वेदान्ति-ध्वान्त निवारण' के विषयमें श्रीदेवेन्द्रनाथ जी मुखोपाध्या द्वारा संग्रहीत महर्षि दयानन्द के जीवन-चरित्र के पृष्ठ २६५ पर लिखा है:—

"श्री स्वामी जी ने अद्वैतवाद के खण्डन में वेदान्ति-ध्वान्त-निवारण पुस्तक रचा और आश्चर्य है कि उसे पण्डित जी (कृष्णराम इच्छाराम जी जोकि घोर अद्वैतवादी थे,) से ही लिखवाया। स्वामी जी ने इस पुस्तक को दो ही दिनों में समाप्त कर दिया।"

महर्षि ने संवत् १९३१ विक्रमी के कार्तिक मास में बम्बई में इसकी रचना की थी। इस का प्रथम संस्करण ओरियन्टल प्रेस बम्बई में मुद्रित हुआ था।

यहाँ एक तथ्य और भी जानने योग्य है। महर्षि दयानन्द द्वारा संस्थापित वैदिक यन्त्रालय के प्रबन्धक श्री मुंशी समर्थदान ने श्रावण शुक्ला १५ संवत् १९३६ वि० के यजुर्वेद-भाष्य के टाइटिल पर यह सूचना प्रकाशित की थी:—

"सब सज्जनों को प्रगट हो कि यह पुस्तक प्रथम बार मुम्बापुरी में मुद्रित हुआ था। उसमें भाषा बहुत अशुद्ध थी। इसलिये मैंने जहाँ तक उचित समझा द्वितीयावृत्ति में इसको शुद्ध करके छापा है। परन्तु मैंने केवल भाषा-मात्र शुद्ध की है, क्योंकि अधिक फेर-फार करने से ग्रन्थ-कर्त्ता के अभिप्राय में अन्तर आ जाता है।"

यह दूसरा संस्करण भी महर्षि दयानन्द के जीवन काल में ही प्रकाशित हो गया था।

आगे 'वेदान्ति-ध्वान्त-निवारण' का जो पाठ प्रकाशित किया जा रहा है, यह वैदिक यन्त्रालय अजमेर द्वारा प्रकाशित ग्रन्थ के सम्वत् २००५ में प्रकाशित, नवम-संस्करण के अनुसार है।

—सम्पादक

—*—

॥ ओ३म् ॥

अथ वेदान्ति-ध्वान्त-निवारणम्

छन्दः शिखरिणी

दया पूर्वोपेतं परमपरमाख्यातुमनघाः,
गिरायानं चानन्त्यमतिमतविध्वंसविधिना ।
स वेदान्तभ्रान्तानभिनवमतभ्रान्तमनसः,
समुद्धर्त्तुं श्रौतं प्रकटयति सिद्धान्तमनिशम् ॥

नवीनतर वेदान्ती लोग कपोलकल्पित अर्थ अनर्थरूप करके जगत् की हानिमात्र कर लेते हैं, तथा मनुष्यों को हठ अभिमानादि दोषों में प्रवृत्त कराके दुःखसागर में डुबा देते हैं। सो केवल अल्पज्ञानी लोग इन के उपदेशजाल में फँस के, मत्स्यवत् मरण क्लेशयुक्त होके, अधर्म्म, अनैश्वर्य और पराधिनतादि दुःखस्वरूप कारागृह में सदा बद्ध रहते हैं।

एक बात इनकी यह है कि--जीव को ब्रह्म मानना।

दूसरी यह है कि—स्वयं पाप करें और कहें कि हम अकर्त्ता और अभोक्ता हैं।

तीसरी बात यह है कि-जगत् को मिथ्या कल्पित मानते हैं।

[चौथी बात यह है कि]—मोक्ष में जीव का लय मानते हैं तथा न वास्तव मोक्ष और न बन्ध।

इत्यादि अनेक इनकी मिथ्या बातें हैं, परन्तु नमूने के लिये इन चार बातों का मिथ्यात्व संक्षेप से दिखलाते हैं:—

१—जीव को ब्रह्म मानने में इस वाक्य का प्रमाण देते हैं कि—

"प्रज्ञानमानन्दं ब्रह्म"

इसको ऋग्वेद का वाक्य कहते हैं। परन्तु ऋग्वेद के आठों अष्टकों में यह वाक्य कहीं नहीं है। किन्तु वेद का व्याख्यान जो 'ऐतरेय ब्राह्मण' उस में यह वाक्य है। सो ऐसा पाठ है कि—

"प्रज्ञानं ब्रह्म"

सो इस वाक्य में ब्रह्म का स्वरूप निरूपण किया है कि—

"प्रकृष्टं ज्ञानं यस्मिन् तत्प्रज्ञानं अर्थात् प्रकृष्टज्ञानस्वरूपम्"

(व्याख्या)—जिस में प्रकृष्ट सर्वोत्तम अनन्त ज्ञान है, वह 'प्रज्ञान' कहावे। अर्थात् प्रकृष्टज्ञानस्वरूप प्रज्ञान विशेषण से ऐसा निश्चित हुआ कि जिसको कभी अविद्यान्धकार अज्ञान के लेशमात्र का भी सम्बन्ध नहीं होता, न हुआ और न होगा। "ब्रह्म जो सब से वृद्ध (बड़ा) और सब जगत् का बढ़ानेवाला, स्वभक्तों को अनन्त मोक्षसुख से अनन्तानन्द में सुख बढ़ानेवाला तथा व्यवहार में भी बृहत (बड़े) सुखका देने वाला, ऐसा परमात्माका स्वभाव और स्वरूप है।

इस वाक्य का नाम "महावाक्य" नवीन वेदान्तीयों ने रक्खा है, सो अप्रमाण है। क्योंकि किसी ऋषिकृत ग्रन्थ में इन का "महावाक्य नाम नहीं लिखा है।

"अहं ब्रह्मास्मि"

इस वाक्य का वेदान्ती लोग ऐसा अर्थ करते हैं कि मैं ब्रह्म हूँ अर्थात् भ्रान्ति से मैं जीव बना था, सो अब मैंने जान लिया कि साक्षात् ब्रह्म हूँ।

यह अनर्थ इनका बिल्कुल खोटा है। क्योंकि पूर्वापर ग्रन्थ का संबन्ध देखे विना चोर की नाईं बीच में से एक टुकड़ा लेके, अपना मतलबसिन्धु का अर्थ करके, स्वार्थसिद्धि करते हैं। देखो, इस वचन का पूर्वापर संबन्ध इस प्रकार है।

शतपथ ब्राह्मण, काण्ड १४। प्रपाठक २। ब्राह्मण २। कण्डिका १८—

'आत्मेत्येवोपासीत। अत्र ह्येते सर्वऽएकं भवन्ति' इत्युपक्रम्य—

यदेतत् प्रेयः पुत्रात् प्रेयो वित्तात्प्रेयोऽन्यस्मात् सर्वस्मादन्तरतरं यदयमात्मा। स योऽन्यमात्मनः प्रियं ब्रुवाणं ब्रूयात् प्रियथ्ं रोत्स्यतीश्वरो ह तथैव स्यादात्मानमेव प्रियमुपासीत। स य आत्मानमेव प्रियमुपास्ते न हास्य प्रियं प्रमायुकं भवति ॥ १६ ॥

तदाहुः। यद् ब्रह्मविद्या सर्वं भविष्यन्तो मनुष्या मन्यन्ते किमु तद् ब्रह्मावेद्यस्मात्तत् सर्वमभवदिति ॥२०॥

ब्रह्म वाऽइदमग्रऽआसीत्। तदात्मानमेवावेदहं ब्रह्मास्मीति। तस्मात्तत् सर्वमभवत्तद्यो यो देवानां प्रत्यबुध्यत स एव तदभवत्तथर्षीणां तथा मनुष्याणाम् ॥ २१ ॥

तद्धैतत् पश्यन्नृषिर्वामदेवः प्रतिपेदे। अहं मनुरभवथ्ंसूर्यश्चेति। तदिदमप्येतर्हि य एवं वेदाऽहं ब्रह्मास्मीति स इदथ्ं सर्वं भवति। तस्य ह न देवाश्च नाभूत्या ईशतऽआत्मा ह्येषाथ्ं स भवत्यथ योऽन्यां देवतामुपास्तेऽन्योऽसावन्योऽहमस्मीति न स वेद, यथापशुरेवथ्ं स देवानां, यथा ह वै बहवः पशवो मनुष्यं भुञ्ज्युरेवमेकैकः पुरुषो देवान् भुनक्त्येकस्मिन्नेव पशावादियमानेऽप्रियं भवति किमु बहुषु तस्मादेषां तन्न प्रियं यदेतन्मनुष्या विद्युः ॥ २२ ॥

'अतति सर्वत्र व्याप्नोतीत्यात्मा परमेश्वरः।' इस प्रकरण में यह है कि सब जीव परमेश्वर की उपासना करें और किसी की नहीं। क्योंकि सर्वव्यापी सर्वान्तर्यामी जो परब्रह्म, वह सब से प्रियस्वरूप है, उसी को जानना। पुत्र, वित्त, धन तथा सब जगत् के सत्य पदार्थों से वही ब्रह्म प्रियतर है। तथा अन्तरतर आत्मा का अन्तर्यामी परमात्मा है, जो कि अपने सबों का आत्मा है। जो कोई इस आत्मा से अन्य को प्रिय कहता है, उसके प्रति (ब्रूयात्) कहे कि परमात्मा से तू अन्य को प्रिय बतलाता है, सो तू दुःखसागर में गिर के सदा रोवेगा। और जो कोई परमात्मा को छोड़ के अन्य की उपासना वा प्रीति करेगा, सो सदा रोवेगा। जो पाषाणादि जड़ पदार्थों की उपासना करेगा, सो सदैव रोवेगा। (आत्मानमेव प्रियमुपासीत। स य आत्मानमेव प्रियमुपास्ते न हास्य प्रियं प्रमायुकं भवति) और जो सर्वशक्तिमान, न्यायकारी, निराकार, अज इत्यादि विशेषणयुक्त परमेश्वर की उपासना करता है, वह इस लोक जन्म तथा परलोक परजन्म तथा मोक्ष में सर्वानन्द को प्राप्त हो जाता है। और उसी ईश्वर की कृपा से (ईश्वरो ह तथैव स्यात्) मनुष्यों के बीच में परमैश्वर्य को प्राप्त हो के समर्थ सत्तवान् होता है, अन्य नहीं। तथा (न हास्य प्रियं प्रमायुकं भवति) यह जो परब्रह्म का उपासक उसका आनन्द सुख 'प्रमायुक्त' नष्ट कभी नहीं होता, किन्तु उसको सदैव स्थिर सुख रहता है। क्योंकि (अत्र ह्येते सर्व एकं भवन्ति) जिस ब्रह्म ज्ञान में सब परस्पर प्रीतिमान् होके, जैसा अपने को सुख वा दुख प्रिय और अप्रिय जान पड़ता है, वैसा ही सब प्राणीमात्र का सुख और दुख तुल्य समझ के, न्यायकारित्वादिगुणयुक्त और सब मनुष्यमात्र के सुख में एकीभूत होके, एकीरूप सुखोन्नति करने में प्रयत्न सब करते हैं। क्योंकि जैसा अपना आत्मा है, वैसा सब के आत्माओं को वह जानता है ॥ १६ ॥

(तदाहुः इत्यादि) जो मनुष्य ब्रह्मविद्यायुक्त हैं, वे ऐसा कहते हैं कि परमेश्वर के सामर्थ्य से सब जगत् उत्पन्न हुआ और सब जगत् की उत्पत्ति करने वाला वही है, ऐसा ब्रह्म विद्यावालों का निश्चय है। सब जगत् में (ब्रह्मावेत्) व्याप्त होके सबकी रक्षा कर रहा है, (किमु) और कोई अन्य जगत् का कारण नहीं है ॥ २० ॥

(ब्रह्म वा इदमित्यादि) सृष्टि के आदि में एक सर्वशक्तिमान् ब्रह्म ही वर्तमान था, सो अपने आत्मा को (अहं ब्रह्मास्मीति तदेवावेत्) स्वस्वरूप का विस्म-

विस्मरण उसको कभी नहीं होता। उस परमात्मा के सामर्थ्य से जगत् उत्पन्न हुआ, ऐसा विद्वानों के बीच में से, जो ब्रह्म अविद्यानिद्रा से उठके जानता है, सो ही ब्रह्मानन्द सुखयुक्त होता है। तथा ऋषि और मनुष्य इनके बीच में जो अज्ञाननिन्द्रा से उठके, ब्रह्मविद्यारूप प्रकाश को प्राप्त होता है, सो ब्रह्म के नित्य सुख को प्राप्त होता है ॥ २१ ॥

(एद्वैतदित्यादि) इस ब्रह्म को वामदेव ऋषि देखता और प्राप्त हुआ मैं मनु और सूर्य्य नामक ऋषि देहधारी अथवा सूर्य्यलोकस्थ जन्मवाला हुआ था, ऐसा विज्ञान समाधिस्थ परमेश्वर के ध्यान में तत्पर, जो वामदेव ऋषि उसको प्राप्त हुआ था। सो विज्ञान जिसको इस प्रकार से होगा। सो भी इस प्रकार जानेगा कि (य एवं वेदाहं ब्रह्मास्मीति) मैं ब्रह्म हूँ, अर्थात् ब्रह्मस्थ हूँ कि मेरे बाहर और भीतर ब्रह्म ही व्यापक (भर रहा) है। जो इस प्रकार ज्ञानवाला पुरुष होता है, सो इस सब सुख को प्राप्त होता है। उसके सामने अनैश्वर्यवाले जो देव, इन्द्रिय वा अन्य विद्वान् ऐश्वर्यवाले नहीं होते। किन्तु ऐसा जो ब्रह्म का उपासक, सो इन इन्द्रिय और अन्य विद्वानों का आत्मा अर्थात् प्रियस्वरूप होता है।

जैसे आकाश से घर भिन्न नहीं होता तथा आकाश घर से भिन्न नहीं, और आकाश तथा घर एक नहीं, किन्तु पृथक् पृथक् दोनों हैं, एवं जीवात्मा और परमात्मा व्याप्य-व्यापक सम्बन्ध से भिन्न वा अभिन्न नहीं हो सकता। सो इसी "बृहदारण्यक के छठे प्रपाठक" में स्पष्ट लिखा है, सो यह वचन है:—

य आत्मनि तिष्ठन्नात्मनोन्तरो यमात्मा न वेद यस्यात्मा शरीरं य आत्मानमन्तरो यमयति स त आत्मान्तर्याम्यमृतः ॥

(व्याख्या)—हे जीवात्मन्! जो परमात्मा तेरा अन्तर्यामी अमृतस्वरूप उपास्य है, तेरे में व्यापक हो के भर रहा है, तेरे साथ है और तेरे से अलग है तथा मिल भी रहा है, जिसको तू नहीं जानता, क्योंकि जिसका तू शरीर है, जैसे यह स्थूल शरीर जीव का है, वैसे परमात्मा का तू भी शरीरवत् है। जो तेरे बीच में रह के, तेरा नियन्ता है, उस अन्तर्यामी को छोड़ के दूसरे पदार्थों की उपासना मत कर।

जो अन्य देव अर्थात् ईश्वर से भिन्न श्रोत्रादि इन्द्रिय अथवा किसी देहधारी विद्वान् देव को ब्रह्म जाने, अथवा उपासना करे, वा ऐसा अभिमान करे कि मैं तो ईश्वर का उपासक नहीं, उससे मैं भिन्न हूँ, तथा वह मेरे से भिन्न है, उस से मेरा कुछ प्रयोजन नहीं, किंवा ईश्वर नहीं है, अथवा ऐसा कहता है कि मैं ही ब्रह्म हूँ, सो इन्द्रियों वा देहधारी विद्वानों का पशु है। जैसा कि बैल वा गर्दभ वैसा वह मनुष्य है, जो परमेश्वर की उपासना नहीं करता ॥ २२ ॥

इत्यादि प्रकरण विचार के बिना चार अक्षर को पकड़ के चोरवत् कपोलकल्पित अर्थ का प्रमाण नहीं होता है। ग्रन्थविस्तार भय से अधिक नहीं लिखते हैं। यह भी यजुर्वेद का वचन नहीं है, किन्तु शतपथ ब्राह्मण का यह पूर्वोक्त वचन है।

वैसे ही "तत्वमसि" यह भी सामवेद का वचन नहीं है किन्तु सामब्राह्मणान्तगर्त 'छान्दोग्य' उपनिषद् का है। इसका भी पूर्वापर प्रकरण छोड़ के नवीन वेदान्तियों ने अनर्थ कर रक्खा है। उस में ऐसा प्रकरण है कि:—

स य एषोऽणिमैतदात्म्यमिदँ सर्व्वं तत् सत्यँ स आत्मा तत्त्वमसि श्वेतकेतो इति ॥

उद्दालक अपने श्वेतकेतु पुत्र को उपदेश देते हैं कि—सो पूर्वोक्त परमात्मा सब जगत् का आत्मा है। सो कैसा है कि जो (अणिमा) अत्यन्त सूक्ष्म है कि प्रकृति, आकाश और जीवात्मा से भी अत्यन्त सूक्ष्म तथा वही सत्य है। हे श्वेतकेतो! यही सब जगत् का अन्तर्यामी, आधारभूत, सर्वाधिष्ठान है। सो ब्रह्म सनातन, निर्विकार, सत्यस्वरूप, अविनश्वर है।

(प्रश्न)—जैसे ईश्वर सब जीवादि जगत् का आत्मा है, वैसे ईश्वर का भी कोई अन्य आत्मा है वा नहीं?

(उत्तर)–(स आत्मा) परमेश्वर का आत्मान्तर कोई नहीं, किन्तु उसका आत्मा वही है। हे श्वेत-

केतो ! जो सर्वात्मा है, सो तेरा भी अन्तर्यामी अधिष्ठान आत्मा वही है। अर्थात्—

'तदन्तर्यामी तदधिष्ठानस्तदात्मकस्त्वमसीति फलितोऽर्थः"।

तत्सहचरण वा तत्सहचार उपाधि इस वाक्य में जानना।

यष्टिकां भोजय अर्थात् यष्टिकया सहचरितं ब्राह्मणं भोजयेति गम्यते, तथैव तद् ब्रह्म सहचरितंस्त्वमसीत्यवगन्तव्यम्। तथा, अहं ब्रह्मास्मीत्यत्राहं ब्रह्मसहचरितो वा ब्रह्मस्थोऽस्मीत विज्ञेयोऽर्थः। तात्स्थ्योपाधिना यथा मञ्चाः क्रोशन्तीत्यत्र मञ्चस्थाः क्रोशन्तीति विज्ञायते, एवं यत्र यत्रसम्भव आगच्छेत्तत्र तत्रोपाधिनाऽर्थो वेदितव्यः। अत्र न्यायदर्शनस्य द्वितीयाध्यायस्थं चतुष्षष्टितमं सूत्रं प्रमाणमस्ति—

सहचरणस्थानतादर्थ्यवृत्तमानधारणसामीप्ययोगसाधनाधिपत्येभ्यो ब्राह्मणमञ्चकटराजसक्तुचन्दनगङ्गाशाटकान्नपुरुषेष्वतद्भावेपि तदुपचारः ॥

एषु दशविधासम्भवेषु वाक्यार्थेषु दशोपाधयो भवन्तीति वेद्यम् ॥

यहां भी सर्वशक्तिमत्व भ्रान्त्यादिदोषरहितत्वादिगुणवाले ब्रह्म का संभव जीव में कभी नहीं हो सकता है, क्योंकि अल्पशक्तित्व, भ्रान्त्यादि दोषसहितत्वादि गुण वाला जीव है। इससे ब्रह्म जीव की एकता मानना केवल भ्रान्ति है।

चौथा "अयमात्मा ब्रह्म" इसको अथर्ववेद का वाक्य बतलाते हैं। यह अथर्ववेद का तो वाक्य नहीं है किन्तु माण्डूक्योपनिषदादिकों का है। इसका तो स्पष्ट अर्थ है कि विचारशील पुरुष अपने अन्तर्यामी को प्रत्यक्ष ज्ञान से देखके कहता है कि यह जो मेरा अन्तर्यामी है, यही ब्रह्म है, अर्थात् मेरा भी यह आत्मा है। अपने उपास्य का प्रत्यक्षानुभव विधायक जीव के समझाने के लिये यह वाक्य है। तथा—

"योऽसावादित्ये पुरुषस्सोऽसावहम्"

यह यजुर्वेद के चालीसवें अध्याय का वाक्य है। जो आदित्य में अर्थात प्राण में पुरुष है, वह मैं जीवात्मा हूँ।

"आदित्यो वै प्राणः"

शतपथब्राह्मणे। तथा—

"आदित्यो ह वै प्राणो रयिरेव चन्द्रमाः"

इति मुण्डकोपनिषदि।

इस प्रमाण से जो प्राण में पूर्ण, प्राण में सोता, प्राण का प्रेरक सो जीवात्मा पुरुष मैं हूँ।

"यद्वा परमेश्वरोऽभिवदति—हे जीवाः! यः असौ आदित्ये बाह्ये सूर्ये किं वा अन्तर्गते प्राणे स असौ अहमेवास्मीति मां वित्त"।

हे जीवो! मुझको बाहर और भीतर तुम लोग जानो, कि सूर्यादि सब स्थूल जगत् तथा आकाश और जीवादि सूक्ष्म जगत् के बीच में मैं जो ईश्वर सो परिपूर्ण हूँ। ऐसा तुम लोग मुझको जानो। क्योंकि इस मंत्र के आगे "अग्ने नयेत्यादि" मोक्षार्थ ईश्वर की प्रार्थना कथित है, तथा "ओं खं ब्रह्म" ओं जिसका सर्वोत्तम नाम है, खं आकाश की नाईं व्यापक सर्वाधिष्ठान जो है, सो सब से बड़ा सब जीवों का उपास्य ब्रह्म है।

"सर्वं खल्विदं ब्रह्म तज्जलानिति शान्त उपासीत।"

यह छान्दोग्योपनिषद् का वचन है। इसका अर्थ भी तात्स्थ्योपाधि से करना—

"इदं सर्वं जगत् ब्रह्म अर्थात् ब्रह्मस्थम्। यद्वा इदं यज्जगदधिष्ठानं तत्सर्वं ब्रह्मैव नात्र किञ्चिद्वस्त्वन्तरं मिलितमिति विज्ञेयम, यथेदं सर्वं घृतमेव नेदं तैलादिभिर्मिश्रतमिति ॥"

यह सब जगत् ब्रह्म नाम ब्रह्मस्थ ही है, अथवा यह प्रत्यक्षान्तर्यामी, जो चेतन, सो केवल एकरस ब्रह्म वस्तु है। इसमें दूसरी कोई वस्तु मिली नहीं, जैसे किसी ने कहा कि यह सब घृत है अर्थात् तैलादिक से मिश्रित नहीं है, वैसे उस ब्रह्म की उपासना शांत होके जीव अवश्य करे, और किसी की नहीं ॥

२—दूसरी यह बात है कि इस शरीर में कर्त्ता और भोक्ता जीव ही है, क्योंकि अन्य सब बुद्ध्यादि

जड़ पदार्थ जीवाधीन हैं। सो पाप और पुण्य का कर्त्ता और भोक्ता जीव से भिन्न कोई नहीं। क्योंकि 'बृहदारण्यकादि' उपनिषद् तथा 'व्याससूत्र' और 'वेदादिशास्त्रों' में यही सिद्धांत है—

"श्रोत्रेण शृणोति, चक्षुषा पश्यति, बुद्धया निश्चिनोति, मनसा संकल्पयति।"

इत्यादिक प्रतिपादन किये हैं। जैसे—

'असिना छिनत्ति शिरः'

तलवार को लेके किसी का शिर काटता है। इसमें काटने का कर्त्ता मनुष्य ही है। काटनेका साधन तलवार है तथा काटने का कर्म शिर है। इसमें पाप और दण्ड मनुष्य (जो मारने वाला है उस) को होता है, तलवार को नहीं। इसी प्रकार श्रोत्रादिकों से पाप-पुण्य का कर्त्ता, भोक्ता, जीव ही है, अन्य नहीं। यह 'गोतम मुनि' तथा 'व्यासादिकों' ने सिद्ध किया है कि:—

इच्छाद्वेषप्रयत्नसुखदुःखज्ञानान्यात्मनो लिङ्गमिति॥

ये छः (इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, सुख, दुःख और ज्ञान) आत्मलिङ्ग हैं।

"तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्ति।"

इसमें भी जीव सुख दुःख का भोक्ता और पाप पुण्य का कर्त्ता सिद्ध होता है। अनुभव से भी जीवात्मा ही कर्त्ता और भोक्ता है। इसमें कुछ संदेह नहीं कि केवल इन्द्रियाराम होके विषयभोगरूप स्वमतलब साधने के लिये, यह बात बनाई है कि—जीव अकर्त्ता, अभोक्ता और पाप-पुण्य से रहित है। यह बात नवीन वेदांती लोगों की मिथ्या ही है॥

३—तीसरे इनकी यह बात है कि जगत् को मिथ्या कल्पित कहते और मानते हैं। सो इनका केवल अविद्यांधकार का माहात्म्य है। अन्य अधिक न हो, इसलिये जगत् सत्य होने में एक ही प्रमाण पुष्कल है:—

सन्मूलाः सोम्येमाः प्रजाः सदायतनाः सत्प्रतिष्ठाः।

यह छान्दोग्य उपनिषद् का वचन है।

(अर्थ)—जिसका मूल सत्य है, उसका वृक्ष मिथ्या कैसे होगा। तथा जो परमात्मा का सामर्थ्य जगत् का कारण है, सो नित्य है, क्योंकि परमात्मा नित्य है, तो उसका सामर्थ्य भी नित्य है। उसी से यह जगत् हुआ है। सो यह मिथ्या किसी प्रकार से नहीं होता।

जो ऐसा कहो कि—

"आदावन्ते च यन्नास्ति वर्त्तमानेऽपि तत्तथा।"

सो यह बात अयुक्त है, क्योंकि जो पूर्व नहीं है, सो फिर नहीं आ सकता। जिस कूप में जल नहीं है, उससे पात्र में जल नहीं आता। इसलिये ऐसा जानना चाहिये कि ईश्वर के सामर्थ्य में अथवा सामर्थ्य रूप जगत् पूर्व था, सो इस समय है और आगे भी रहेगा।

कोई ऐसा कहे कि संयोगजन्य पदार्थ संयोग से पूर्व नहीं, हो सकता, वियोगान्त में नहीं रहता, सो वर्त्तमान में भी नहीं, सो जानना चाहिये।

इसका यह उत्तर है कि—विद्यमान सत् पदार्थों का ही संयोग होता है। जो पदार्थ नहीं हों, उनका संयोग भी नहीं होता। इससे वियोग के अन्त में भी पृथक् पृथक् वे पदार्थ सदैव रहते हैं। कितना ही वियोग हो तो भी अन्त में अत्यन्त सूक्ष्म पदार्थ रह ही जाता है, इसमें कुछ सन्देह नहीं। इतना कोई कह सकता है कि संयोग और वियोग तो अनित्य हुआ, सो भी मान्य करने के योग्य नहीं। क्योंकि जैसे वर्तमान में संयुक्त पदार्थ होके पृथिव्यादि जगत् बना है, सो पदार्थों के मिलने के स्वभाव के बिना कभी नहीं मिल सकते, तथा वियोग होने के बिना वियुक्त नहीं हो सकते। सो मिलना और पृथक् होना यह पदार्थों का गुण ही है। जैसे मिट्टी में मिलने का गुण होने से घटादि पदार्थ बनते हैं, बालुका से नहीं, सो मिट्टी में मिलने और अलग होने का गुण ही है, सो गुण सहज स्वभाव से है। वैसे ईश्वर का सामर्थ्य जिससे यह जगत् बना है, उसमें संयोग और वियोगात्मक गुण सहज (स्वाभाविक) ही है। इससे निश्चित हुआ कि जगत् का कारण, जो ईश्वर का सामर्थ्य, सो नित्य है।

तो उसके वियोग आदि गुण भी नित्य हैं। इससे जो जगत् को मिथ्या कहते हैं, उनका कहना और सिद्धांत मिथ्याभूत है, ऐसा निश्चित जानना॥

४—चौथी इनकी यह बात है कि जीव का लय ब्रह्म में मोक्ष समय में मानते हैं, जैसे समुद्र में बहुत विंदुका मिलना। यह भी इनकी बात मिथ्या है। इसके मिथ्या होने में प्रमाण हैं, परन्तु ग्रन्थ विस्तार न हो इसीलिये संक्षेप से लिखते हैं—

'कठवल्ली' तथा 'बृहदारण्यकादि' उपनिषदों में मोक्ष का निरूपण किया है कि:—

यदा पञ्चावतिष्ठन्ते ज्ञानानि मनसा सह ।
बुद्धिश्च न विचेष्टते तामाहुः परमा गतिम् ॥

(अर्थ)—जब जीव का मोक्ष होता है, तब पांच ज्ञानेन्द्रियों का ज्ञानस्वरूप जीवात्मा परमात्मा में परमानन्द स्वरूप युक्त होके सदा आनन्द में रहता है। उसी को परमगति अर्थात् मोक्ष कहते हैं॥

सो अन्यत्र भी कहा है कि:—

परमज्योतिरुपसम्पद्य स्वेन रूपेणाभिनिष्पद्यते ।
इति श्रुतिर्बृहदारण्यकस्य॥

परम ज्योति, जो परमात्मा, उसको (उपसंपद्य) अर्थात् अत्यन्त समीपता को प्राप्त होके, (स्वेन रूपेण) अर्थात् अविद्यादि दोषों से पृथक् होके, शुद्ध, युक्त ज्ञानस्वरूप और स्वसामर्थ्य वाला जीव मुक्त हो जाता है॥

वही स्वरूप 'शारीरक सूत्रों' के चतुर्थाध्याय के चतुर्थपाद में निरूपण किया है कि:—

अभावं बादरिराह ह्येवम् ॥

मोक्ष समय में मन को छोड़ के अन्य इन्द्रिय वा शरीर जीव के साथ नहीं रहते, किन्तु मन तो रहता ही है। औरों का अभाव होता है, यह निश्चय बादरि आचार्य का है।

तथा:—

भावं जैमिनिर्विकल्पामननात् ॥

जैमिनि आचार्य का यह मत मोक्ष विषयक है कि जैसे मोक्ष में मन जीव के साथ रहता है, वैसे इन्द्रियों तथा स्वशक्ति स्वरूप शरीर का सामर्थ्य भी मोक्ष में रहता है। अर्थात् शुद्ध स्वाभाविक सामर्थ्य-युक्त जीव मोक्ष में भी रहता है॥

तथा बादरायण (व्यासजी) का मत ऐसा है कि—

द्वादशाहवदुभयविधं बादरायणोऽतः ॥

जैसे मृत शौच की निवृत्ति के पश्चात् द्वादशवां जो दिन, सो सत्रयागरूप माना है और भिन्न भी माना जाता है। उस दिन में यज्ञ के भाव और अभाव दोनों हैं, तद्वत् मोक्ष में भी भाव और अभाव रहता है। अर्थात् स्थूल शरीर तथा अविद्यादि क्लेशों का अत्यन्त अभाव और ज्ञान तथा शुद्ध स्वशक्ति का भाव सदा मोक्ष में बना रहता है। सच्चिदानन्दानन्तस्वरूप परमात्मा के साथ सब जन्म-मरणादि दुःखों से छूट के, सदा आनन्द में युक्त जीव रहता है। यह बादरायण जो व्यासजी, उनका मत है॥

और 'गोतम ऋषि' का भी ऐसा ही मत है। न्यायदर्शन अ० १। आ० १—

दुःखजन्मप्रवृत्तिदोषमिथ्याज्ञानानामुत्तरोत्तरापाये तदनन्तरापायादपवर्गः ॥ २ ॥

बाधनालक्षणं दुःखम् ॥ २१ ॥

तदत्यन्तविमोक्षोऽपवर्गः ॥ २२ ॥

मिथ्या ज्ञान ऐसा है कि जड़ में चेतनबुद्धि और चेतन में जड़बुद्धि, इत्यादि अनेक प्रकार का मिथ्याज्ञान है। उसकी निवृत्ति होने से अविद्यादि जीव के दोष निवृत्त हो जाते हैं। दोष की निवृत्ति होने से प्रवृत्ति, जो कि विषयासक्ति और अन्याय में आसक्त है, वह निवृत्त हो जाती है। प्रवृत्ति के छूटने से जन्म छूट जाता है। जन्म के छूटने से दुःख छूट जाता है। सब दुःखों के छूटने से अपवर्ग, जो मोक्ष, वह यथावत् होता है॥ २॥

बाधना—विविध प्रकार की पीड़ा अर्थात् जो दुःख हैं, उनकी अत्यन्त निवृत्ति के होने से जीव को अपवर्ग, जो मोक्ष ईश्वर के आधार में अत्यन्तानन्द, वह सदा के लिये प्राप्त होता है। इसका नाम अपवर्ग अर्थात् मोक्ष है॥ २१-२२॥

इत्यादिक अनेक प्रमाण हैं कि मोक्ष में जीव का लय नहीं होता, किन्तु अत्यन्तानन्दरूप जीव रहता

है। एक अन्य भी प्रमाण देते हैं कि—

सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म यो वेद
निहितं गुहायां परमे व्योमन्।
सोऽश्नुते सर्वान् कामान्
ब्रह्मणा सह विपश्चितेति ॥
—तैत्तिरीयोपनिषद्वचनम् ॥

जो जीव सत्य, ज्ञान और अनन्तस्वरूप ब्रह्म स्वान्तर्यामी को स्वबुद्धि ज्ञान में निहित, (स्थित) जानता व प्राप्त होता है, वह परम व्योम व्यापक-स्वरूप जो परमात्मा उसमें मोक्ष समय में स्थिर होता है। पश्चात् सर्वविद्यायुक्त, सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान्, जो ब्रह्म उसके साथ सब कामों को प्राप्त होता है। अर्थात् सब दुःखों से छूट के परमेश्वर के साथ सदानन्द में रहता है॥

जो लोग जीव का लय मानते हैं, उनके मत में अनिर्मोक्षप्रसङ्ग दोष आता है। तथा मोक्ष के साधन भी निष्फल हो जाते हैं। क्योंकि जैसे सृष्टि के पूर्व ब्रह्म मुक्त था, वही अविद्याभ्रम अज्ञानोपाधि के साथ होने से बद्ध हो गया है। वैसे ही प्राप्तमोक्ष चेतन को फिर भी अविद्योपाधि का सङ्ग हो जायगा इससे मोक्ष की नित्यता नहीं रही। तथा जिस मोक्ष के लिये विवेकादि साधन किये जाते हैं, उस मोक्ष को प्राप्त होने वाले जीव का लय ही होना है, फिर सब साधन निष्फल हो जायगे। क्योंकि मुक्ति सुख का आनन्द भोगने वाले जीव का नाम निशान भी नहीं रहता।

तथा जीव ब्रह्म की एकता मानने वालों के मत में ब्रह्म ही भ्रान्त अज्ञानी हो जाता है। क्योंकि जब सृष्टि की उत्पत्ति नहीं हुई थी, तब ज्ञानस्वरूप शुद्ध ब्रह्म था, वही ब्रह्म अविद्यादि दोषयुक्त होके दोषी हो गया। सो यह वेद उपनिषद् तथा वेदान्त शास्त्रों से अत्यन्त विरुद्ध मत है—

'शुद्धमपापविद्धं कविः'

इत्यादि यजुर्वेद संहितादि के वचन हैं कि ब्रह्म सदा शुद्ध, पापरहित और सर्वज्ञादि विशेषणयुक्त है, उस में अज्ञानादि दोष कभी नहीं आ सकते। क्योंकि देश काल वस्तु का परिच्छेद ईश्वर में नहीं, भ्रान्त्यादि दोष अल्पज्ञ जीव में होते हैं, नान्यत्र।

(प्रश्न)—तत्सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशत्, अनेनात्मना जीवेनानुप्रविश्य नामरूपे व्याकरवाणि॥

ये तैत्तिरीयोपनिषदादि के वचन हैं॥

वही ब्रह्म जगत् को उत्पन्न करके, फिर प्रविष्ट हुआ। इस में जीवात्मारूप अन्तःकरण में प्रविष्ट होके नाम रूप का व्याकरण करूँ। इससे यह सिद्ध होता है कि वही ब्रह्म जीवरूप बना है।

(उत्तर)—यह आप लोगों का अनर्थकरण है। क्योंकि परिपूर्ण, एकरस, सब में जो भरा है, वह प्रवेश वा निकालना नहीं कर सकता, किन्तु जीव बुद्धि से जब तक अज्ञानी रहता है, और उसी बुद्धि से जीव को जब ज्ञान होता है, तब उसी में परमात्मा प्राप्त होता है, अन्यत्र नहीं। इससे जीव को ऐसा मालूम पड़ता है कि ब्रह्म मेरे में प्रविष्ट हुआ था। वा जब जब जिस जिस जीव को ईश्वर का ज्ञान होता है, तब-तब उस-उस को अपने आत्मा में ही होता है। इस से यह भी निश्चित होता है कि प्रवेश का करने वाला तथा जिस में प्रवेश करता है, उन दोनों का अलग ही होना निश्चित है।

तथा एक प्रवेश का करने वाला और दूसरा अनुप्रवेश करने वाला होता है। क्योंकि:—

"शरीरं प्रविष्टो जीवः, जीवमनुप्रविष्ट ईश्वरोऽस्तीति गम्यते"।

इस प्रकार अर्थ करने से ही यथार्थ अभिप्राय इन वचनों का विदित होता है।

किंवा सहायार्थ में तृतीया विभक्ति है—

"अनेन जीवात्मना शरीरं प्रविष्टेन सह तं जीवमनुप्रविश्याहमीश्वरः नामरूपे व्याकरवाणीत्यन्वयः"।

अत्र प्रमाणम्—

द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषस्वजाते॥

एक शरीर में जीवात्मा और परमात्मा का

विधान और सङ्ग प्रतिपादन है। इस से जीव और ईश्वर का एक मानना केवल जङ्गली पुरुषों की कथा है, ऋषि मुनि विद्वानों की यह कथा नहीं।

ईश्वर ने अपने सामर्थ्य से जगत् को बनाया है। इस में प्रमाणः—

स्वमस्य पारे रजसो व्योमनः
स्वभूत्योजा अवसे धृषन्मनः।
चकृषे भूमिं प्रतिमानमोजसो-
ऽपः स्वः परिभूरेष्या दिवम् ॥१॥

ऋ० सं० अ० १ । अ० ४ । व० १३ । मंत्र १२ ॥

(अर्थ)—हे परमेश्वर ! आपने (स्वभूत्या) स्वसामर्थ्य तथा (ओजा) अनन्त पराक्रम से भूमि, जल, स्वर्ग तथा दिव अर्थात् भूमि से लेके सूर्यपर्यन्त सब जगत् को बनाया है, रक्षण और धारण तथा प्रलय आप ही करते हो ॥ १ ॥

न यस्य द्यावापृथिवी अनुव्यचो
न सिन्धवो रजसो अन्तमानशुः।
नोत स्ववृष्टिं मदे अस्य युध्यत
एको अन्यच्चकृषे विश्वमानुषक् ॥ २ ॥

ऋ० सं० अ० १ । अ० ४ । व० १४ । मन्त्र १४ ॥

(अर्थ)—हे परमेश्वर ! एक असहाय विश्व सब जगत जो कि आप का अनुसङ्गी आप के रचन और धारण से विद्यमान हो रहा है, सो आप से अलग ही है। आप का स्वरूपभूत नहीं। क्योंकि—

'अन्यद्विश्वं स्वस्माद्भिन्नं त्वं चकृषे कृतवानसि'

इस सब जगत् को आपने स्वरूप से अन्यत् भिन्न वस्तुभूत रचा है, आप जगत्रूप नहीं बने ॥२॥

तथा—

अणोरणीयान्महतो महीयाना-
त्मास्य जन्तोर्निहितो गुहायाम्।
तमक्रतुः पश्यति वीतशोको
धातुः प्रसादान्महिमानमात्मनः ॥ ३ ॥
नित्यो नित्यानां चेतनश्चेतनाना-
मेको बहूनां यो विदधाति कामान्।
तमात्मस्थं येऽनुपश्यन्ति धीरा-
स्तेषां शान्तिः शाश्वती नेतरेषाम् ॥ ४ ॥

जो सूक्ष्म से सूक्ष्म, बड़े से बड़ा परमात्मा इस जीव के ज्ञान अर्थात् जीव के बीच निहित (स्थित) है, परन्तु उस सर्वात्मा को अभिमानशून्य, शोकादि-दोष रहित, परमात्मा का कृपापात्र जीव ज्ञान से देखता है। और उस आत्मा अन्तर्यामी परमात्मा की महिमा सर्वशक्तिमत्व और व्यापकत्वादि गुण को भी वही देखता है, अन्य नहीं ॥ ३ ॥

इसमें भी जीव ईश्वर का भेद निरूपित है।

और जो परमात्मा प्रकृति और जीवादि के बीच में नित्य है, तथा चेतन जो जीव उनके बीच में चेतन है, बहुत असंख्यात जीवादि पदार्थों के बीच में जो एक है, तथा जो पृथिव्यादि स्वर्गपर्यन्त पदार्थों का रचन किंवा ज्ञान से सब कामों का विधान प्राप्त करता है, उस परमात्मा को, जो जीव अपने आत्मा में ध्यान से देखते हैं, उन जीवों को ही निरन्तर शान्ति सुख प्राप्त होता है, अन्य को नहीं ॥ ४ ॥

इससे भी 'आत्मस्थ' शब्द प्रत्यक्ष होने से ईश्वर और जीव का व्यापक व्याप्य, तथा अन्तर्यामी अन्त-र्याम्य सम्बन्ध होने से जीव और ब्रह्म एक कभी नहीं होते। व्याससूत्र—

नेतरोऽनुपपत्तेः ॥

इतर जीव से जगत् रचना की चेष्टा नहीं हो सकती ॥

भेदव्यपदेशाच्च ॥

ब्रह्म और जीव दोनों भिन्न ही हैं।

मुक्तोपसृप्य व्यपदेशात् ॥

मुक्त पुरुष ब्रह्म के समीप को प्राप्त होके आनन्दी होते हैं ॥

प्राणभृच्च ॥

प्राणधारी जीव जगत् का कारण नहीं ॥

विशेषणभेदव्यपदेशाभ्यां नेतरौ ॥

विशेषण दिव्य और सर्वज्ञादि भेदव्यपदेश, जीव

और प्रकृत्यादि से परमात्मा परे है ॥

इससे जीव और प्रकृति जगत् के कारण नहीं हैं। जो जीव और ब्रह्म पृथक् न होते, तो जगत् के कारण होने में निषेध न करते। और जो जीव ब्रह्म एक होते, तो निषेध का संभव नहीं हो सकता। इत्यादि व्यास के शारीरिक सूत्रों से भी स्पष्ट सिद्ध होता है कि जीव और ब्रह्म एक नहीं, किन्तु अलग-अलग हैं ॥

तथा नवीन वेदांती लोगों ने पंचीकरण की कल्पना निकाली है, सो भी अयुक्त है। त्रिवृत्करण छान्दोग्योपनिषद् में लिखा है, क्योंकि आकाश का पंचीकरण विभाग वा संयोग करना असम्भव है।

नवीन वेदांती लोगों के प्रचार से मनुष्य के सुखादि की अत्यन्त हानि होती है। क्योंकि इन लोगों में दो बड़े दोष हैं, एक जगत् को मिथ्या मानना और दूसरा जीव ब्रह्म को एक मानना।

जगत मिथ्या मानने में ऐसा कहते हैं कि यह जगत स्वप्न के तुल्य है। सो यह उनका कहना मिथ्या है। जिसकी उपलब्धि होती है और जिसका कारण सत्य है, उसको मिथ्या कहने वाले का कहना मिथ्या है। स्वप्न भी दृष्ट और श्रुत संस्कार से होता है। दृष्ट और श्रुत संस्कार प्रत्यक्षानुभव के विना स्वप्न ही नहीं होता। सर्वज्ञ और अवस्थादि रहित होने से परमात्मा को तो स्वप्न ही नहीं होता।

जो जीव ब्रह्म हो, तो जैसी ब्रह्म ने यह असंख्यात सृष्टि की है, वैसे एक मक्खी वा मच्छर को भी जीव क्यों नहीं कर सकता ? इससे जगत को मिथ्या और ब्रह्म की एकता मानना ही मिथ्या है। जगत को मिथ्या मानने में जगत की उन्नति परस्पर प्रीति और विद्यादि गुणों की प्राप्ति करने में पुरुषार्थ और श्रद्धा अत्यन्त नष्ट होने से, जगत के जितने उत्तम कार्य हैं, वे सब नष्ट भ्रष्ट हो जाते हैं।

जीव और ब्रह्म को एक मानने से परमार्थ सब नष्ट हो जाता है। क्योंकि परमेश्वर की आज्ञा का पालन, स्तुति, प्रार्थना, उपासना करने की प्रीति बिलकुल छूटने से केवल मिथ्याभिमान, स्वार्थसाधनतत्परता, अन्याय का करना पाप में प्रवृत्ति, इन्द्रियों से विषयों के भोग में फंसने से, अत्यन्त पामरता और पतितादिक दोषयुक्त होके अपने मनुष्यजन्म धारण करने के जो कर्तव्य धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष चारों फल नहीं होने से, मूर्तिपूजनादि व्यवहारों के करने से, इस जीव का जन्म निष्फल हो जाता है।

इससे मनुष्यों को उचित है कि सद्विद्यादि उत्तम गुणों का जगत् में प्रचार करना, व्यवहार परमार्थ की शुद्धि और उन्नति करना तथा वेदविद्यादि सनातन ग्रन्थों का पठनपाठन और नाना भाषाओं में वेदादि सत्यशास्त्रों का सत्यार्थप्रकाश करना, एक निराकार परमात्मा की उपासनादि का विधान करना, कलाकौशलादि से स्वदेशादि मनुष्यों का सुखविधान, परस्पर प्रीति का करना, हठ, दुराग्रह, दुष्टों के संगादि को छोड़ना, उत्तम-उत्तम पुरुष तथा स्त्री लोगों की सभाओं से सब मनुष्यों का हिताहित विचारना और सत्य व्यवहारों की उन्नति करना, इत्यादि मनुष्यों को अवश्य कर्त्तव्य है। इन को सब विरोध छोड़ के सिद्ध करना, यही सब सज्जनों से हमारा विज्ञापन है। इसको सज्जन लोग अवश्य स्वीकार करेंगे, ऐसी मुझ को पूर्ण आशा है।

सो इसकी सिद्धि के लिये सर्वशक्तिमान्, सब जगत् के पिता माता, राजा, बन्धु, जो परमात्मा, उनसे मैं अत्यन्त नम्र हो के प्रार्थना करता हूँ कि सब मनुष्यों पर कृपा करके, असन्मार्ग से हटा के, सन्मार्ग में चलावें, वही हमारा परम गुरु है ॥

॥ समाप्तम् ॥